

बौद्ध दर्शन और धर्म के विविध आयाम

भारती कुमारी

शोध-छात्रा, इतिहास,

बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

बुद्ध, धर्म और संघ बौद्ध धर्म के तीन रत्न माने गये हैं। त्रिशरण-गमन बौद्ध संघ में प्रवेश की प्रथम औपचारिक आवश्यकता थी। प्रव्रज्या के प्रार्थी को सिर और दाढ़ी मुढ़ाकर, काषाय वस्त्र पहनकर, उत्तरासंग एक कन्ध में बैठकर और हाथ जोड़कर तीन बार यह कहना पड़ता था-बुद्ध ही शरण जाता हूँ, धम्म की शरण जाता हूँ और संघ की शरण जाता हूँ।

अब प्रश्न उठता है कि शरण का क्या अर्थ हो सकता है? शरण का अर्थ दृढ़ निष्ठा एवं तदनुसार आचरण करना है। भगवान् बुद्ध ने पूजा-पाठ का निषेध किया था। उन्होंने अपनी पूजा तक को सार्थक न कहकर धर्म आचरण की ओर सबको प्रेरित किया था। उन्होंने यह भी कहा था कि मनुष्य भय के मारे पर्वत, वन, उद्यान, वृक्ष, चैत्य आदि को देवता मानकर उनकी शरण में जाते हैं। किन्तु ये शरण मंगलदायक नहीं, ये शरण उत्तम नहीं, क्योंकि इन शरणों में जाकर सब दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता। जो बुद्ध, धर्म और संघ की शरण जाता है और चार आर्य सत्त्यों की भावना करता है, वही सब दुःखों से मुक्त होता है।¹

त्रि-शरण

बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संघानुस्मृति ये तीन स्मृतियाँ हैं। इनके अभ्यास से भी चित्त क्लेशों, मलों और आवरणों से परिशुद्ध अवदात एवं निर्मल होता है तथा यथायोग्य प्रथम, द्वितीय आदि ध्यानो की प्राप्ति होती है। अतः ध्यान की प्राप्ति में इनका भी बड़ा महत्व है।

भगवान् बुद्ध करुणा की मूर्ति थे। समस्त जनता को नानाविदुःखों से दुःखी देखकर सर्वप्रथम उनके मन में करुणा का उत्पाद हुआ। अन्ततोगत्वा उपाय की खोज में उन्होंने गृहत्याग किया और उरुवेला में बोधिवृक्ष के नीचे अनुपम ज्ञान प्राप्त कर बुद्ध हुए। इस तरह उनमें महाकरुणा और महाप्रज्ञा विकास की चरमकोटि को प्राप्त कर, समरस होकर स्थित थीं। 'बुद्धं शरणं गच्छामि' में बुद्ध शब्द का अर्थ होता है भगवान् बुद्ध के स्कन्ध द्रव्यों में होने वाले अर्हत्व आदि नौ गुण। अर्हत् आदि नवगुणों को ही बुद्ध कहा जाता है। भगवान् बुद्ध के अर्हत्व आदि नौ गुणों का पुनः स्मरण करना 'बुद्धानुस्मृति' कहलाती है। बुद्ध जगे हुए पुरुष को कहते हैं अथवा जिसने बोधि को प्राप्त कर लिया है। बुद्ध का आविर्भाव बोधि से होता है, माता के गर्भ से नहीं। इसलिए कहा गया है कि बुद्ध पुरुष का आविर्भाव लोक में अति दुर्लभ है। बुद्ध नाम सुनना भी लोक में अति दुर्लभ है। इन्हीं सब विशेषणों के कारण बुद्ध के व्यक्तित्व की विशालता को भारतीय लोगों ने ही नहीं, विदेशियों ने भी स्वीकार किया है। सुप्रसिद्ध विद्वान् बार्थ ने लिखा है, "बुद्ध का व्यक्तित्व शान्ति और माधुर्य का सम्पूर्ण आदर्श है। वह अनन्त कोमलता, नैतिक स्वतंत्रता और पाप-राहित्य की मूर्ति है।"²

धम्मं सरणं गच्छामि- मैं धर्म की शरण में जाता हूँ, यह बौद्धों के लिए दूसरी शरण है। धर्म की अनुस्मृति वस्तुतः बुद्ध की स्मृति से कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। परमार्थ रूप से तो बुद्ध और धर्म में भेद करना ही अज्ञान होगा। बुद्ध और धर्म एक हैं। भगवान् बुद्ध ने स्वयं अनेक बार कहा है, "जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है। जो मुझे देखता है, वह धर्म को देखता है।" महायान बौद्ध धर्म में इसी सत्य की स्वीकृति 'धर्म कायस्तथागता' कहकर की

गयी है और उसे विस्तृत तात्विक रूप प्रदान किया गया है। महापरिनिर्वाण में प्रवेश करते समय भगवान ने भिक्षुओं से कहा था, “मेरे बाद मेरे उपदेश दिया हुआ धर्म विनय ही तुम्हारा रास्ता होगा।”³

इस प्रकार धर्म लोक में बुद्ध का प्रतिनिधि है। ‘धम्म’ अपने अस्तित्व के लिए बुद्धों के आविर्भाव पर निर्भर नहीं है। तथागत चाहे उत्पन्न हो या न हों, धर्मनियामता तो रहती ही है। ‘धम्म’ व्यक्तिनिरपेक्ष सत्य है, जो व्यक्ति के रूप में भगवान बुद्ध की अपेक्षा नहीं रखता।

बुद्ध और संघ के बीच ‘धम्म’ मध्यस्थता करता है। बुद्ध ने धम्म का साक्षात्कार किया और अपने बाद ‘धम्म’ को अपना प्रतिनिधि बनाया। ‘धम्म’ के लिए बुद्ध ने अपने को विसर्जित कर दिया। ‘धम्म’ के प्रचार के लिए, ब्रह्मचर्य के प्रकाश के लिए संघ का आयोजन हुआ। बुद्ध के बाद उसका नियंत्रणकर्ता भी ‘धम्म’ ही हुआ, कोई व्यक्ति नहीं। वस्तुतः बुद्ध ने अपने जीवन-काल में भी कभी यह नहीं माना कि वे संघ का संचालन कर रहे हैं। धम्म के द्वारा ही वे संघ को संचालित मानते थे। जिस धर्म का बुद्ध ने साक्षात्कार किया, उसे आदि में कल्याणकारी, मध्य में कल्याणकारी और अन्त में भी कल्याणकारी कहा गया है।⁴

बौद्ध धर्म में संघ एक प्रमुख इकाई है और त्रिरत्न में एक रत्न है। शरणामति के वक्तव्य में संघ आदर्श रूप में कल्पित है। यह निर्वाणप्राप्त, जीवन्मुक्त भिक्षुओं का संघ है, जिसमें चार पुरुष युग्म और आठ पुरुष पुद्गल होते हैं। इस तरह आठ आर्य पुद्गलों के संघ को ही परमार्थतः ‘संघ’ कहा जाता है। व्यवहारतः सभी प्रकार के भिक्षुओं के संघ को जिसमें चार से अधिक भिक्षु हों, ‘संघ’ कहा जाता है। भगवान का श्रावक संघ अच्छे मार्ग पर चलने वाला है, सीधे मार्ग पर चलने वाला है, न्याय मार्ग पर चलने वाला है और समीचीन मार्ग पर चलने वाला है। यह आह्वान करने योग्य, आतिथ्य करने योग्य, दक्षिण देने योग्य तथा अंजलि बाँधकर प्रणाम करने योग्य है। यह दान देने वालों के लिए सर्वश्रेष्ठ पुण्य-क्षेत्र है। संघ के इन गुणों का मन में बार-बार स्मरण करना ही ‘संघानुस्मृति’ है। संघ के सामने व्यक्ति तुच्छ है, यहाँ तक कि संघ बुद्ध से भी महान् है। एक समय महाप्रजापति गौतमी भगवान बुद्ध के पास गयी और उन्हें अपने हाथ से काते और बुने हुए एक जोड़े वस्त्र को दान देना चाहा। भगवान ने उसे स्वयं न ग्रहण कर संघ को देने के लिए कहा और साथ ही यह भी कहा कि “संघ को देने से मैं भी पूजित होऊँगा और संघ भी।”⁵ इससे स्पष्ट होता है कि बौद्ध धर्म में संघ का क्या स्थान है। धम्मपद में भी भगवान बुद्ध ने बुद्ध, धम्म और संघ के मैत्री को सुखदायक कहा है।

भगवान बुद्ध ने सारे उपदेशों और प्रयत्नों का, एकमात्र रस निर्वाण है। निर्वाण के प्रापक धर्मों को उन्होंने वास्तविक धर्म कहा। निर्वाण के अनुकूल शारीरिक और मानसिक चेष्टाओं को उन्होंने कुशल कहा, पुण्य, शील, सदाचार और सम्यग्दृष्टि कहा। इससे विपरीत विचारों और क्रियाओं को उन्होंने मिथ्यादृष्टि, पाप, अकुशल, दुःशील और दुराचार की संज्ञा प्रदान की। निर्वाण के मार्ग का उन्होंने स्वयं अन्वेषण किया और इसके बाद इस सुपरीक्षित मार्ग का उन्होंने दूसरों को जीवनभर उपदेश दिया। व्यक्ति, समाज और संसार का दुःख उनके सामने एक समस्या के रूप में उपस्थित था। उसके कारणों को नाश करके वे सभी दुःखा से आत्यन्तिक मुक्ति दिलाना चाहते थे। वे अत्यन्त संवेदनशील थे। दुःख का साक्षात्कार तो प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन करता रहता है, किन्तु उससे कभी उद्विग्न नहीं होता मानों वह उस स्थिति का आदी हो गया हो। भगवान् को इसी बात का सबसे अधिक आश्चर्य था कि लोग इतने दुःख-सागर में निमग्न होने पर भी कैसे हँसते-खेलते रहते हैं; उससे मुक्ति का उपाय क्यों नहीं सोचते।⁶

निर्वाण का निर्वचन

निर्वाण की महत्ता की दृष्टि से स्वभावतः उत्तरकालीन बौद्ध-ग्रन्थों में इस विषय पर अत्यधिक विचार-चर्चा हुई। अभिधम्मत्थसंगहो में निम्नलिखित रूप में

निर्वाण की व्याख्या है। निर्वाण में 'वान्' शब्द का अर्थ तृष्णा है। वान् एक जोड़ने वाला धर्म है। इसके द्वारा एक जन्म का दूसरे जन्म के साथ योग किया जाता है। जब तक इस वान् नामक तृष्णा का अन्त नहीं किया जाता तब तक निर्वाण असम्भव है। आशय यह है कि 'वान्' से निर्गत धर्म ही 'निर्वाण' है।

निर्वाण के भेद

बौद्ध-पराम्परा में दो प्रकार के निर्वाण माने गये हैं, सोपाधिशेष निर्वाण और निरुपाधिशेष निर्वाण। सोपाधिशेष की निम्नलिखित रूप में व्याख्या की गयी है।

अच्छे-बुरे कर्म और राग, द्वेष, अविद्या, तृष्णा आदि क्लेशों के वश में जिनकी उत्पत्ति होती है, वे 'उपाधि' हैं। अथवा जिनसे कम और क्लेश उत्पन्न होते हैं, जिनमें कर्म और क्लेश को आश्रय ग्रहण करते हैं, वे 'उपाधि' हैं। जो उपाधि भी हैं और शेष भी रहते हैं, वे 'उपधिशेष' कहलाते हैं। वस्तुतः अर्हत् व्यक्ति के पाँच स्कन्ध ही 'उपधिशेष' हैं। निर्वाण का लाभ होने जाने, क्लेशों का क्षय हो जाने तथा क्लेशवश नवीन कर्मों का सम्पादन न करने पर भी पुराने कर्मों के विपाक के रूप में उनकी स्थिति तब तक बनी रहती है या उनकी धारा का प्रवाह तब तक चलता रहता है, जब तक आयु का क्षय नहीं होता यही सोपाधिशेष अवस्था है।⁷

जब अर्हत् व्यक्ति का आयु-क्षय से मरण हो जाता है, तब उसके सभी प्रकार के नाम धर्मों की सन्तति तथा रूप धर्मों की सन्तति सर्वदा के लिए सर्वथा निरुद्ध हो जाती है। उसके पाँचों स्कन्धों का निरोध हो जाता है। जिस अवस्था में उपधिशेष कहलाने वाले पाँच स्कन्धों का भी अभाव हो जाता है, वह निर्वाण धातु 'उपधिशेष निर्वाण' कहलाती है।⁸

भगवान् बुद्ध की सारी देशना एकमात्र रस निर्वाण है। उनके धर्म का आदि और अन्त सब कुछ निर्वाण है। निर्वाण दुःख और उसके कारणों की निवृत्ति है। यह सर्वश्रेष्ठ अवस्था एवं परम पद है। इसकी प्राप्ति के बाद कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहता। यह परम शान्ति है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर भी यदि व्यक्ति जीवित है तो वह सोपाधिशेष निर्वाण या जीवमुक्त की अवस्था कहलाती है।

कर्म

बौद्ध धर्म एक मनोवैज्ञानिक धर्म है। मनोविज्ञान की आधारशिला पर वह प्राणिजगत को कम्दायाद, कम्मस्सक, कर्मयोनि और कम्मपटिसरण कहता है। भगवान् बुद्ध के इन वचनों में बौद्ध धर्म का सार निहित है। बौद्ध धर्म की यह कर्मवादिता उसकी बुद्धिवादिता का परिणाम है। बौद्ध-विचारकों ने भी क्रिया के अर्थ में ही कर्म शब्द का प्रयोग किया है। वहाँ भी शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं को कर्म कहा गया है, जो अपनी नैतिक शुभाशुभ प्रकृति के अनुसार कुशल अथवा अकुशल कर्म कहे जाते हैं। भगवान् बुद्ध ने कर्म शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक रूप में किया है। उसे वह चेतना का पर्यायवाची मानते थे। यह बात उनकी निम्नलिखित उक्ति से प्रकट है- "चेतना ही भिक्षुओं का कर्म है मैं ऐसा कहता हूँ। चेतनापूर्वक कर्म किया जाता है, काया से, वाणी से या मन से।" यहाँ पर चेतना को कर्म कहने का आशय केवल यही है कि चेतना के होने पर ही ये समस्त क्रियाएँ सम्भव हैं। बौद्ध-दर्शन में चेतना को ही कर्म कहा गया है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे कर्मों का निरसन किया गया है।

कर्म मूलतः दो प्रकार के हैं-चेतना कर्म और चेतयित्वा कर्म। चित्त कर्म और चेतयित्वा अथवा चेतसिक कर्म (काय और वचन से उत्पन्न होने के कारण कायिक और वाचिक कर्म) कहे गये हैं। इस प्रकार कर्म शब्द क्रिया के अर्थ में प्रयुक्त होता है, लेकिन कर्म शब्द का अर्थ क्रिया से अधिक विस्तृत है। कर्म शब्द में शारीरिक, मानसिक और वाचिक क्रियाओं का निर्धारण और उन भावी क्रियाओं के कारण उत्पन्न होने वाली अनुभूति सभी समाविष्ट हो जाती है। कर्म

में क्रिया का उद्देश्य, क्रिया और उसके फलविपाक तीनों ही अर्थ लिये जाते हैं। आचार्य नरेन्द्र देव ने लिखा है, “केवल चेतना (आशय) और कर्म ही सकल कर्म नहीं है। कर्म के परिणाम का भी विचार करना होगा। इससे एक अपूर्व कर्म, एक अविज्ञप्ति होती है।”

बौद्ध-दर्शन कर्म के चैतसिक पक्ष को ही स्वीकार करता है और यह मानता है कि बन्धन के कारण अविद्या, वासना, तृष्णा आदि चैतसिक तत्व ही हैं। यदि ऐसा नहीं तो मानना पड़ेगा कि काय, वाक् और मन-ये तीन कर्मद्वार हैं। सभी कर्म इन्हीं द्वारों से सम्भूत हैं एवं मन का संबंध सभी के साथ है। मन उनका प्रतिशरण है। कहा गया है- “सारी अवस्थाओं का मन अगुवा है, मन प्रधान है और सारे कर्म मनोमय हैं। जब अपना मन बुरा या भला होता है तब कायिक और वाचिक कृत्य भी उसके मुताबिक बुरे या भले होते हैं।”

कर्मवाद के दार्शनिक और नैतिक पक्ष के अतिरिक्त भगवान बुद्ध उसके सामाजिक पक्ष में भी विश्वास करते थे। सामाजिक क्षेत्र में वह जन्मजात वर्ण व्यवस्था में बिल्कुल विश्वास नहीं करते थे। उनका कहना था कि कोई भी वर्ण व्यवस्था जन्म के आधार पर स्थापित नहीं की जा सकती है। बुद्धोपादिष्ट ‘चातुवर्णी शुद्धि’ का आधार कर्म ही है। चाहे शूद्र हो या अन्य कोई प्राणी, यदि वह स्मृति-प्रस्थान आदि की भावना करता है तो निर्वाण का साक्षात्कार करता है। कर्म मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं करता। पुण्य कर्म से आयु की वृद्धि होती है और बत्तीस महापुरुष-लक्षण भी मनुष्य पूर्वजन्म के किये कर्मों के परिणामस्वरूप पाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि विश्व की व्यवस्था में कर्म ही प्रधान है। इसलिए मनुष्य को अधिक-से-अधिक शुभ कर्म करना चाहिए। इसीलिए भगवान बुद्ध ने कर्म प्रतिशरण बनने का उपदेश दिया था। वे बुद्धशरण और कर्मशरण में कोई भेद नहीं मानते थे। उनका कहना था कि जिसका कर्म अच्छा है वह बुद्ध के समीप है, चाहे वह उनसे सौ योजन की दूरी पर भी हो। जिसका कर्म बुरा है वह बुद्ध से दूर है चाहे वह उनकी संघाटी के छोर को पकड़कर उनके पैरों के पीछे पैर रखता हुआ ही चल रहा हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्मवाद का सिद्धान्त बौद्ध धर्म की आधारशिला है।

सन्दर्भ सूची:-

1. विंसेंट एलिंगर, *कास्ट एंड बुद्धिस्ट फिलॉसफी*, मोतीलाल बनारसीदास, न्यू दिल्ली, 2012, पृ. 6-7.
2. उपरोक्त.
3. एच. डब्ल्यू. शूमैन, *द हिस्टोरिकल बुद्धा : द टाईम्स लाइफ एंड टिचिंग्स ऑफ द फाउंडर ऑफ बुद्धिज्म*, मोतीलाल बनारसी दास, न्यू दिल्ली, 2016, पृ. 14.
4. जे. बार्थलमे सेंट हिलेरी, *द बुद्धा एंड हिज रिलिजन*, मुंशीराय मनोहरलाल पब्लिशर्स, न्यू दिल्ली, 1997, पृ. 13.
5. उपरोक्त.
6. एच.बी. ग्लासनैप, *डॉक्टरीन ऑफ कर्म इन जैन फिलॉसफी*, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 1991.
7. उपरोक्त.
8. उपरोक्त.
9. के.टी.एस. सराव, *डेकलाइन ऑफ बुद्धिज्म इन इंडिया*, मुंशीराम मनोहर लाल पब्लिशर्स, न्यू दिल्ली, 2012, पृ. 6-7.

XXXX